समाज

बाबा की लीला

● अभिनव

आजकल किसिम-किसिम के बाबाओं का बड़ा जोर है। कोई जीतने की कला बता रहा है, कोई मित्र बनाने और सफल होने की तो कोई जीने की ही कला सिखा देने का दावा कर रहा है। एक ओर तो आसाराम बापू, रविशंकर, ओशोपंथी, सुधांशु महाराज, जैसे सन्यासी हैं, तो दूसरी ओर दीपक चोपड़ा, शिव खेड़ा, नॉर्मन विंसेंट पील जैसे मैनेजमेन्ट गुरू। लेकिन ये जीने की कला के दुकानदार हाल-फिलहाल में पैदा नहीं हुए हैं। अगर गुजरे कल पर एक निगाह दौड़ाई जाए तो हम पाएँगे कि पहली बार विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के बाद ही जीने की कला की दुकानें खुलने लगी थीं। पहले यह काम पादरी और मनोचिकित्सक किया करते थे। अब यह दायरा व्यापक हो चुका है। मैनेजमेण्ट के लोगों से लेकर सन्यासी और साधू तक यह काम कर रहे हैं। लेकिन मजे की बात तो यह है कि साधू-सन्यासी 'जीने की कला' सिखा रहे हैं। उनका सरोकार तो मनुष्य के इहलौकिक जीवन की बजाय जीवन के बाद के जीवन, यानी पारलौकिक जीवन में होना चाहिए। लेकिन जनाब, ये ऐसे सन्यासी नहीं हैं जो गुफा-कन्दराओं में रहते हों और कन्द-मूल पर जीते हों। ये हाई-टेक और टेक्नोलॉजी-सैवी बाबा हैं। ये मोबाइल फोन रखते हैं, ए.सी. कारों और हवाई जहाजों में चलते हैं, फाइव स्टार होटलों में ठहरते हैं और करोड़ों-अरबों रुपयों की सम्पत्ति के मालिक होते हैं।

इससे भी बड़ा मजाक यह है कि जो जीने की बुनियादी चीजें भी नहीं पैदा कर सकते, वो सिखा रहे हैं कि कैसे जिएँ!

लेकिन फिर भी बड़ी संख्या में लोग इन बाबा लोगों की शरण में जा रहे हैं। हर वर्ग के अपने बाबा और पंथ हैं। निम्न मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग के लोग जयगुरुदेव जैसे पंथों और सुधांशु महाराज जैसे बाबाओं के पास जाते हैं। नवधनाढ्य वर्ग के लोग ओशो, आसाराम बापू, श्री श्री रविशंकर जैसे सन्यासियों के पास जाते हैं। पढ़ा-लिखा शहरी मध्य वर्ग जो "आधुनिक" हो गया है, वह शिव खेड़ा, दीपक चोपड़ा, स्पेंसर जॉनसन और नॉर्मन विंसेंट पील जैसे मैनेजमेण्ट गुरुओं को पढ़कर ज़िन्दगी में जीत जाना चाहता है। इनमें तमाम किस्म की प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारियों में लगे युवा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आखिर क्यों लोग 'जीने की कला' बेचने वाले इन पंसारियों के पास जा रहे हैं, जो खुद जीने की बुनियादी जरूरतें भी नहीं पैदा कर सकते?

इन बाबाओं और मैनेजमेण्ट गुरुओं के पास हर वर्ग के लोग जा रहे हैं। वे भी जिनका भविष्य अनिश्चितता की अंधी गुफा में भटक रहा है और जिनके पास कोई विकल्प नहीं है, और वे भी जिनके पास 'भगवान का दिया सबकुछ' है, यानी वे खाए-अघाए लोग जिनके पास हर भौतिक सुख-सुविधा है लेकिन जिनका रिक्त, कंगाल मानस अध्यात्म की माँग करता है। पूँजीवाद में इंसान एक अदृश्य सत्ता का गुलाम होता है। यह अदृश्य सत्ता होती है माल (कमोडिटी) की, जिसे पैदा तो खुद इंसान करता है, मगर उसी की गुलामी करने लगता है। हर किसी का भविष्य बाजार में बिकने वाले माल की नियति से नत्थी होता है। मेहनतकश वर्ग और निम्न मध्य वर्ग में अपनी बदहाली और बेरोजगारी को लेकर गहरी निराशा व्याप्त है। यह जगह-जगह परिवार-सहित आत्महत्याओं और युवाओं द्वारा आतंकवाद का रास्ता पकड़ने के रूप में सामने आ रही है। यह स्थिति पूँजीवादी सत्ता के लिए भी बहुत अच्छी नहीं है।

ऐसे ही हालात में धर्म और अध्यात्म एक सस्ते इलाज के रूप में सामने आते हैं। वे निम्न वर्ग के लोगों को इस लोक में धैर्यवान और विनम्र बनने का पाठ पढ़ाते हैं; और बदले में?–बदले में उनके स्वर्ग जाने का रास्ता साफ! बस कुछ साल और इस नर्क को चुपचाप झेल लीजिये!

इस समाज में इंसान के ऊपर चीज़ों की हुकूमत कायम है। आम आदमी के लिए उत्पादन की पूरी प्रक्रिया रहस्यावरणों से ढकी होती है। युवा वर्ग को 'हाई सोसायटी' के दर्शन करा दिए जाते हैं, जो उसे मिल नहीं सकती। वह उसके पीछे भागता रहता है और एक दिन थककर निराश हो जाता है। फिर कोई आसाराम बापू या सुधांशु महाराज आते हैं अपने नशीले प्रवचन के साथ निराशा से उबारने। और अगर कोई इन बाबाओं के प्रवचन का दृश्य देखे तो

मार्क्स की वह प्रसिद्ध उक्ति बरबस ही जेहन में आ जाती है जिसमें उन्होंने धर्म को अफ़ीम कहा था। हजारों लोग अफ़ीमचियों की तरह बैठकर झूमते रहते हैं। इन बाबाओं के अलावा कई छद्म विज्ञानों को भी खड़ा किया जा रहा है जैसे रेकी, प्राणिक हीलिंग, जेनपंथ, ताओपंथ, होलिस्टिक मेडिसिन, फेंग शुई वगैरह। वैकल्पिक चिकित्सा के नाम पर इन ढकोसलों को धंधेबाज़ विज्ञान बता रहे हैं। अलगाव के मारे युवा वर्ग को यह भी लुभाता है। इसके अलावा नवधनाढ्य वर्ग, जो डंडी मारते-मारते आज गाड़ी, नौकरों, बंगले आदि हर सुविधा से लैस हो गया है, वह भी अपने पापबोध से मुक्ति के लिए इन बाबाओं की शरण में आता है। कुछ बाबा तो दान-दक्षिणा द्वारा स्वर्ग में सीट आरक्षित करने का सस्ता और टिकाऊ रास्ता बताते हैं। कुछ बाबा और ज्यादा रैडिकल होते हैं। वह बताते हैं कि 'शिष्य! तुम जिसे पाप समझते हो, वह पाप नहीं! वह तो जग की रीत है! ऊँच-नीच तो परमात्मा की लीला है। दुख क्या है? सुख क्या है? सब माया है!' इस तरह के प्रवचनों से आत्मा की ठण्डक पाकर सेठ-व्यापारी अपनी-अपनी कारों में वापस चले जाते हैं और फिर 'जग की रीत' का निर्वाह करने लगते हैं, यानी डंडी मारना जारी कर देते हैं। बदले में इन बाबाओं को दे जाते हैं सोना-चाँदी या हरी पत्ती की गड्डियाँ।

इससे अलग शहरी उच्च मध्य वर्ग अपने जीवन के घिसे-पिटे ढर्रे से ऊबकर श्री श्री रविशंकर और ओशो जैसे बाबाओं के पास जाता है। बाबाओं की ये नस्ल इंद्रियभोगवाद को अध्यात्म और धर्म की चाशनी में डुबोकर परोसती है और सेक्स-सम्बन्धी सामाजिक वर्जनाओं से इस आधुनिक शहरी उच्च मध्य वर्ग को मुक्त कर देती है। ये बताते हैं कि ईश्वर से साक्षात्कार का रास्ता सेक्स है (ओशो की पुस्तक 'सम्भोग से समाधि तक') या धर्म के मुँह से कहलवाते हैं–'खाओ-पियो-मौज करो'। (श्री श्री रविशंकर–'आर्ट ऑफ लिविंग') ये सन्यासी भी एक किस्म के पापबोध से इस वर्ग के लोगों को मुक्त कराते हैं। फराने समाज की 'नैतिकता' को मूर्खता बताते हैं और एकदम दूसरे छोर पर जाकर लम्पटई को जीने की आदर्श कला के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस कला के दर्शन तो सबको हो जाते हैं मगर इस महँगी जीवन-शैली में घुस पाना हरेक के बूते की बात नहीं होती।

उच्च और उच्च मध्यमवर्गीय जीवन का घोर अलगाव भी लोगों को इन आधुनिक बाबाओं की शरण में भेजता है। सामाजिक अकेलेपन और मित्रविहीनता के शिकार ये लोग अपने मूल्यबोध में घोर व्यक्तिवाद के कारण किसी भी किस्म की स्वस्थ सामूहिकता को तो पसंद नहीं करते, लेकिन इन बाबाओं के यहाँ होने वाले कर्मकाण्डों में उन्मादी भीड़ का हिस्सा बनकर कुछ देर के लिए अपने अकेलेपन से मुक्ति पा जाते हैं। यह अलग बात है कि यह क्षणिक तुष्टि उन्हें बार-बार नशे की खुराक की तरह ऐसे "सत्संगों" में खींचकर ले आती है जहाँ पश्चिमी संगीत की तेज बीट और रहस्यमय रोशनियों के बीच वे घंटों उछल-कूद करते रहते हैं।

इस पूरे नाटक का सबसे विद्रूप दृश्य प्रस्तुत करती हैं उच्च वर्ग की मुटियाई-अघाई सेठानियाँ। ये धार्मिक होने की प्रेरक शक्ति को एकदम नंगे रूप में दिखला देती हैं। हर 15 दिनों के बाद या तो किटी पार्टी होती है या जागरण। जागरण में पारलौकिक जीवन के अच्छे होने की कामना नहीं होती है, बल्कि यह कामना होती है–

देवी माता जब भी देंगी
देंगी छप्पर फाड़कर।
बैंक होगा, लॉकर होंगे
घर में नौकर-चाकर होंगे।

खा-खाकर अघाई इन स्त्रियों की देवी माता से यही प्रार्थना होती है!

एक सवाल और पैदा होता है। जो पूँजीवाद कभी धर्म की सत्ता से लड़ा था, वह क्यों इन ढोंगी बाबाओं का शरणदाता बना हुआ है?

धर्म और अध्यात्म का आज एक विस्तृत व्यापारिक-औद्योगिक तंत्र है। बल्कि कहें कि अध्यात्म स्वयं ही एक व्यापार है। आज पूँजीवाद धर्म का विरोधी होने की बजाय उसे भौतिक आधार दे रहा है। जिस समाज में इंसान अपना भाग्य-निर्माता स्वयं नहीं होता और वस्तुएँ असका भाग्य निर्धारित करती हैं, वहाँ आदमी धर्म की शरण में जाता है। बदले में धर्म बाजार में कुछ गति पैदा कर देता है। मंदी के हाथों पिटते पूँजीवाद को कुछ राहत मिलती है। आसाराम बापू, सुधांशु महाराज, तमाम अम्माएँ, ओशो, श्री श्री रविशंकर, आदि के नाम के तौलिये, पेन, ताबीज, कॉपी, माला, किताबें, कैलेण्डर, पोस्टर, स्टिकर, मोबाइल फोन के कवर, घड़ी, बेल्ट, आदि के उत्पादन का एक विराट तंत्र है। इनके उत्पादन में लगे बहुत से लोग श्रद्धावश कोई मेहनताना नहीं लेते या नाममात्र की कोई राशि लेते हैं। साथ ही, बहुत से कारीगरों को 'धर्म के काम' के नाम पर बहुत कम मज़दूरी देकर काम करवाया जाता है। लेकिन ये सामान बाज़ार में ऊँची दरों पर बिकता है और श्रद्धालु इन्हें खरीदते हैं–धर्म के नाम पर। अगर आप इनके आश्रमों में जाएँगे तो पाएँगे कि इनके अपने अस्पताल चलते हैं, पूज्य बाबा के नाम पर दवाओं का व्यापार होता है। दक्षिण में धर्म को चिकित्सा और योग से जोड़ दिया जाता है। योग में काम आने वाली चटाई, बेलन आदि को बनाने वाले भी आम तौर पर निशुल्क सेवा देते हैं। इसके अलावा अधिकांश बाबाओं की प्रवचन सभाओं के बाहर मर्दानगी की दवाएँ बिकती रहती हैं।

इस तरह धर्म के नाम पर अति लाभ निचोड़ा जाता है। मंदी की मार से अधमरे पड़े बाजार में कुछ गति आती है। बाजार में गति आने से मरगिल्ले, कुपोषित, और मरभुक्खे पूँजीवाद में कुछ जान आती है। तो ऐसे 'जीवनदायी' धर्म को पूँजीवाद क्यों न गले से लगा ले! क्यों न उसके अस्तित्व की रक्षा करे जो शासक वर्गों के अत्याचार को "जग की रीत" और "ऊपर वाले की लीला" बतलाता है!

धर्म और पूँजीवाद के बीच के इस अपवित्र गठबन्धन को पहचानना होगा। जानना होगा कि बाबा की लीला से पूँजीवाद को क्या मिला!

●